

ब्लूनोज़ से ब्लूटिक की दुनिया बनाम वाचा का निगमीकरण



सन १९०५ में जार्ज बर्नार्ड शॉ ने एक शब्द ईजाद किया था। कामस्टाकरी। ये एंथनी कामस्टाक नाम के एक सज्जन के नाम पर शब्द बना था। इन्हें अभद्र चीजों की सेंसरशिप का उन्माद सा था और ये साहित्य व कला की ईमानदार अभिव्यक्तियों के भी पीछे हाथ धोकर पड़ जाते थे। इन्होंने एक व्यापक अभियान चलाया। विक्टोरियन नैतिकता के ये झंडाबरदार थे। ईसाई धार्मिकता के घनघोर मानदंडों पर चलने वाले ये शरूस् स्वयं को भगवान के बगीचे के झंखाड़ उखाड़ने वाले कहते थे।

लेकिन उन महोदय के पास सत्ता नहीं थी। सो वो अतिउत्साहीलाल की तरह बस अभियान ही चला पाये। सेंसरशिप नहीं कर सके। वह राज्य का काम था जो इस नीली नाक वाली सेंसरशिप के लिये हमेशा साथ नहीं दे सकता था।

लेकिन अब कारपोरेट कामस्टाकरी का युग आ गया है। हमारी सामान्य समझ यही थी कि सेंसरशिप एक सॉवरेन फ़ंक्शन है। एक संप्रभु क्रिया है। उसके लिये विधिवत गठित सेंसर बोर्ड है। और कई मीडिया की आत्मानुशासी संहिताएँ हैं। लेकिन अब ये कारपोरेट सेंसर कहाँ से पैदा हो रहे हैं ? और इनके मनमाने एक्शन को प्रश्नचिन्हित करने के लिये कोई नियामक आयोग क्यों नहीं बनता ?

Facebook, 1 Google+, Instagram, Myspace, Tumblr, Twitter, YouTube आदि इतने सारे नये उपक्रम। और कोई नियामक नहीं। क्या ये प्राइवेट हैं या एक इन्होंने अपना इतना बड़ा साम्राज्य स्थापित कर लिया है कि राज्य भी इनके लिये छोटा हो गया है? क्या वे public function को perform कर रहे हैं या नहीं? Shri Anadi Mukta Sadguru Shree Muktajee Vandas Swami Suvarna Jayanti Mahotsav Sampark Trust v. V.R. Rudani⁵ (Anadi Mukta case), प्रकरण में तो भारत के उच्चतम न्यायालय ने यह कहा कि the expression “any person or authority” used in Article 226 of the Constitution is not only to be confined to statutory authorities and instrumentalities of the State and would cover any other person or body performing public duty. तब क्या ये हमारे देश की विधियों से सर्वथा निरपेक्ष रह सकते हैं। क्या वे पब्लिक फोरम नहीं हैं ? तो उनकी संवैधानिक स्कूटिनी क्यों नहीं हो सकती है ?

ये किसी भी दिन किसी को भी बिना पूर्वसूचना के बिना कोई अवसर दिये अपमानित कर लेते हैं और

इनको उत्तर देने का कोई दायित्व नहीं। कोई अकाउंटेबिलिटी नहीं। हमारे तत्कथित प्रगतिशील-पता नहीं कितना शील था उनमें-इस बात पर आपत्ति करते थे कि अब मोहल्ला-सेंसर बनते जा रहे हैं और यह बात विधिसंगत नहीं है। हम अमेरिकी 'प्योरिटी ग्रुप्स' का मज़ाक उड़ाते थे कि जिन्हें 'मादाम बावेरी' भी आपत्तिजनक लगती थी। लेकिन अब वे ही हम इन कारपोरेट महाप्रभुओं की बदतमीज़ियां सहते हैं। क्योंकि इनके पास वृहद वित्त है! क्योंकि इनके पास एक सीमलेस सुपर कंट्रोल है! ये चरित्र प्रमाणपत्र बाँटते हैं। ये चुनाव आयोग की तरह बोलने पर रोक लगाते हैं। इनके गैंग आर्डर्स किस कानून से निःसृत होते हैं? क्या ये हमारे संविधान की धारा १९ में दी गई अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता से भी ऊपर चले गये हैं?

फ़ेसबुक अब 2500 से ज्यादा सेंसर विशेषज्ञ रखता है। और उसने इसकी क्राउडसोर्सिंग भी कर दी। इसे लेकर लेखक-समुदाय लड़ सकता है। मुझे उन लेखकों के सामूहिक हस्ताक्षर अभियान याद हैं जो सत्ता के द्वारा किसी भी अभिव्यक्ति को अनुशासित करने के विरुद्ध चलाये जाते हैं। पर क्या हम लोग इन कारपोरेट दैत्य-सत्ताओं के ऐसे एकतरफ़ा निर्णयों को लेखकीय स्वतंत्रता के अपहरण की तरह नहीं देखेंगे? मुझे पता नहीं उन लोगों को क्या हुआ है जो पूँजी के कलुषित संगठन का विरोध करना अपना धर्म मानते थे? आजकल वे पूँजी से नहीं उलझते। बस अपने देश की संस्कृति और राजसत्ता से ही उलझकर मुतमईन हो जाते हैं। दिन में दस बार अंबानी-अडानी को गाली देने वाले मार्क जुकरबर्ग और जैक डार्सी के लिये ताली बजाते हैं। वे नहीं देखते कि सत्ता और प्राधिकार के कुछ नये प्रारूप हमारे देखते देखते न केवल पैदा हुए हैं बल्कि हमारी स्वतंत्रताओं की सरहदों के नए निर्धारक हो गये हैं। वे न केवल वैध अभिव्यक्ति (legitimate expression) को लांछित करने के माध्यम बन गये हैं बल्कि उसके ज़रिये अपनी तरह की राजनीति भी चला रहे हैं।

क्या अभिव्यक्ति के कारपोरेटाइजेशन के खतरों के प्रति हम सचेत हैं? अब वे कभी भी किसी को असत्यापित कर रहे हैं, किसी को भी ब्लॉक कर रहे हैं और किसी को भी सावधि निलंबन का दंड दे रहे हैं। मीडिया मिलिक्यत के संघनन पर चिंता व्यक्त करने वाले इस प्लेटफ़ार्म प्रपंच को पढ़ ही न सके हैं। ब्लूनोज़्ड सेंसरशिप की जगह अब ब्लू टिक हैं या न हैं-इसकी चिंता है।

(लेखक मध्य प्रदेश में वरिष्ठ आईएएस अधिकारी हैं व धर्म अध्यात्म से जुड़े विषयों पर कई पुस्तकें लिख चुके हैं)